International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

दलित लेखकों की दृष्टि में आरक्षण : एक विश्लेषण

डॉ० शकुंतला
58/9 शास्त्री नगर, लाढ़ोत रोड़,
रोहतक (हरियाणा)

''ये सही है कि आजादी के तीन साल बाद भारतीय संविधान ने सबको वोट का समान अधिकार देकर दलितों को राजनीति में हस्तक्षेप करने का बराबर का दर्जा दिया है। यह भी सही है कि दलित, आदिवासियों को विधायिका, रोजगार और शिक्षा में आरक्षण देकर बाबा साहब ने उन्हें राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समानता देने की ओर एक बड़ा कदम उठाया जो दलितों में आत्मसम्मान एवं अस्मिता निर्माण हेतु आवश्यक था। लेकिन ये आरक्षण कहीं भी पूरी तरह लागू नहीं हुआ क्योंकि सवर्ण समाज ने ही नहीं बल्कि अन्य गैर–दलित समाज ने भी संविधान के इस प्रावधान को कभी मन से नहीं स्वीकारा। दरअसल सरकार द्वारा इसे लागू करने या करवाने वाले लोग वही थे जो इसका विरोध करते थे। इसलिए इसका सतत् कड़ा विरोध ही होता रहा, खासकर शिक्षा व रोजगार के मामले में। फलतः आज तक रोजगार और नियोजन के मामले में आरक्षण पूरी तरह लागू नहीं किया जा सका है। इसके खिलाफ दलित समाज का जो स्थायी संघर्ष और संगठित होकर संघर्ष करना चाहिए था, वह भी नहीं हो पाया।''[1]

डॉ० अजमेर सिंह काजल 'दलित चिन्तन के आयाम में आरक्षण' के यथार्थ पर प्रकाश

[1] डॉ० रामकली सर्राफ, दलित लेखन का अन्तर्विरोध, पृ० 98

डालते हुए कहते हैं कि ''भारतीय उत्पीड़न के खिलाफ दलित मुक्ति का आन्दोलन आजादी से पूर्व और आजादी के बाद भी जारी है। आजादी से पूर्व के आन्दोलन दलितों को सामूहिकता के साथ एक ही तरह के अधिकारों की मांग करते नजर आते हैं जो उन्हें हिन्दुओं की छुआछूत और जातीय ढांचे द्वारा थौंपी गई सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गुलामी के प्रतिरोध के रूप में दिखाई देती है जिसके मध्य में साम्प्रदायिक निर्णय और पूना पैक्ट एक महत्वपूर्ण पड़ाव है जिसके तहत दलितों को प्रथम बार राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप भारत के दलितों को संविधान के अनुच्छेद 15, 16, 29, 38, 46, 330, 332, 334, 335 के तहत विशेष प्रावधान किए गए हैं जिनमें शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश, राजकीय सेवाओं, स्थानीय स्वशासन की इकाइयों, राज्य विधानसभाओं तथा संसद में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। ये प्रावधान सम्पूर्ण देश के दलितों के लिए एक समान रूप से लाए थे, लेकिन इसके बावजूद इन प्रावधानों के लाभ सभी को समान रूप से नहीं मिल पाए हैं। जिन व्यक्तियों–जातियों में शिक्षा और सामाजिक चेतना का फैलाव अधिक हुआ, वे इनसे अधिक लाभांवित हुए और जिन व्यक्ति–जातियों में शिक्षा और सामाजिक चेतना का फैलाव कम हुआ, वे कम लाभांवित हो पाए। यदि यह कहा जाए कि शिक्षा प्राप्त करने के प्रारम्भिक स्तर में राज्य ने समान अवसर और अन्य सुविधाएँ उपलब्ध करवाई थी, मगर सामाजिक चेतना के अभाव में परम्परागत जातिगत व्यवसायों को न त्यागने के कारण सभी व्यक्ति और जातियाँ समान रूप से आगे नहीं बढ़ पायी।''[2]

चन्द्रभान प्रसाद ने दलितों में मध्यवर्ग विकसित होने की संभावनाओं पर कहते हैं

[2] डॉ० अजमेर सिंह काजल, दलित चिंतन के आयाम, पृ० 34–35

''भारत की कुल सरकारी नौकरियों की संख्या 1 करोड़ 94 लाख है जिसमें दलितों का आरक्षण कोटा अभी पूरा नहीं हुआ है। यदि यह पूरा भी हो जाए तो, किसी भी सूरत में 45 लाख से अधिक दलित सरकारी नौकरी में नहीं जा सकते, जबकि दलित जनसंख्या 20 करोड़ से ऊपर है। निजी क्षेत्र में दलितों की उपस्थिति न के बराबर है, शिक्षण संस्थाओं में इनका प्रतिनिधित्व नाममात्र का है। मीडिया में दलित अभी भी बहिष्कृत हैं। उद्योग एवं व्यापार जगत, कला, फिल्म, संगीत में दलितों की उपस्थिति का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं हो पाया है। तब दलितों में मध्य वर्ग उदित हो जाने जैसी अवधारणाओं का क्या अर्थ' अनुसूचित जातियों को अधिकारिता प्रदान करने सम्बन्धी वर्किंग ग्रुप की रिपोर्ट के अनुसार केन्द्रीय सेवाओं में वर्ष 1992–97 के दौरान इनकी 113450 नौकरियाँ समाप्त की जा चुकी हैं। दलितों के प्रति होने वाली घृणा कोई सामाजिक समस्या नहीं बल्कि एक वंशानुगत रोग है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होता रहता है। यह हमारे दिमाग की उपज है। इसका निदान भी वहीं से ढूंढ़ना होगा।''[3] आज भी दलितों के प्रति आगजनी, हिंसा और हत्याएं बंद नहीं हुई हैं। दुलीना, खैरलांजी, मिर्चपुर और परम कुड्डी जैसे हत्याकांड़ों ने दलितों के यथार्थ से सम्पूर्ण विश्व को परिचित करवाया है।''[4]

समकालीन हिन्दी–मराठी दलित लेखक 'आरक्षण से स्थिति में परिवर्तन' पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि आरक्षण से दलितों की स्थिति में परिवर्तन आवश्यक हुआ है, लेकिन जिस उद्देश्य को लेकर इस प्रावधान की स्थापना की थी, वह अभी भी बहुत पीछे है। शिक्षा

[3] डॉ० अजमेर सिंह काजल, दलित चिंतन के आयाम, पृ० 34–35
[4] रमणिका गुप्ता, दलित विमर्श की मुश्किलें, पृ० 102–104

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

और नगरीकरण उनमें बहुत कम है। उनकी प्रति व्यक्ति आय भी निम्न है। दलित जातियों के लिए प्रशासन में आरक्षित स्थानों का एक अंश ही वास्तव में भरा है। 'रमणिका गुप्ता' दलित विमर्श की मुश्किलें में आरक्षण से दलित की स्थिति में परिवर्तन न होने के निम्न कारण हैं–

क. आरक्षण के विरोध के पीछे अभिजात सवर्ण समाज का डाह युक्त ये मनोभाव था– 'अरे ये नीच जात हमारे बराबर कैसे हो सकता है?' श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ या ऊंच–नीच की यह मानसिकता सवर्णों में ही नहीं पिछड़ों और दलितों में भी भरी हुई है। इसी मानसिकता से दलित भी विभाजित है।

ख. दूसरा बड़ा कारण आर्थिक है दलित समाज को भले कम ही सही, इस व्यवस्था के माध्यम से रोजगार व नौकरी मिलनी शुरू हो गई है। इससे सवर्णों को लगा कि 'अरे ये तो हमारा हिस्सा छीन रहे हैं।' इस ईर्ष्या, डाह और असुरक्षा की भावना ने उन्हें और भी अधिक आरक्षण विरोधी बना दिया। ये सर्वविदित है कि बेरोजगारी के अनुपात में ऐसी सरकारी नौकरियाँ नगण्य हैं जिनमें आरक्षण द्वारा भागीदारी हो सकती है। सरकार ने तो कई वर्षों से नियोजन पर ही प्रतिबन्ध लगा रखा है। लेकिन सवर्णों को दलितों और पिछड़ों का ये प्रतीकात्मक (Notional) हक भी बर्दाश्त नहीं हुआ और वे आत्महत्या करने पर उतारू हो गए। इस प्रकार सबके लिए रोजगार का मुद्दा तो पीछे छूट गया और लडाई चंद नौकरियों में हिस्सेदारी की बन गई। इसे मुद्दा बनाया सवर्ण समाज ने ही चूंकि वे शुरू से ही पूरा हिस्सा हड़पने के आदी थे। अब तो निजीकरण व उदारनीति के कारण सार्वजनिक क्षेत्र ही खत्म किये जा रहे हैं जिससे कुछ अरसे बाद रोजगार में आरक्षण बेमानी हो जाएगा। शिक्षा भी महंगी की जा रही

है। इससे दलितों को शिक्षा से ही वंचित रखने की साजिश कामयाब हो जाएगी।

ग. तीसरा कारण है स्वयं दलित समाज, जिसे अपनी हीन भावना त्यागकर समक्ष होना था जिसे संगठित होना था – जिसे आरक्षण के माध्यम से सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करके अपने समाज व गैर दलित समाज की मानसिकता बदलने की मुहिम चलानी थी। इस समाज ने अपनी तरफ कदम नहीं बढ़ाए। ऐसे उत्तर भारत में दलित आन्दोलन की मुहिम दलित नौकरशाहों ने ही चलाई थी।

आरक्षण की इन सुविधा के चलते एक गलत प्रवृति यह पनपी कि दलित वर्ग जातिविहीन समाज बनाने की बजाय आरक्षण की सुविधा लेने हेतु अपनी–अपनी जाति के संगठन मजबूत करने लगा। ...

घ. जहाँ तक विधायिका में आरक्षण का सवाल है वह आज भी चालू है लेकिन इस व्यवस्था में दलित विधायक को अपना निर्णय करने का अधिकार नहीं है। इस प्रणाली में ऊपर से सत्ता में भागीदारी जरूर दिखती है और कुछ लोगों को सत्ता का सुख भी मिलता है। यही सत्ता सुख विधायकों खासकर दलित व पिछड़े विधायकों के दल–बदल का कारण भी बनता है जो न तो सिद्धान्त के लिए होता है और न ही सामाजिक बदलाव के लिए, यह केवल व्यक्तिगत लाभ या कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए होता है ... आज यही हो रहा है। हिन्दूवादी शक्तियाँ एक तरफ दलित नेतृत्व के साथ–साथ मोर्चा बनाकर दलित आन्दोलन को कुंद कर रही हैं तो दूसरी तरफ कांग्रेस जैसी दोमुंही शक्तियाँ उन्हें पचाने के फेर में हैं अथवा गुमराह कर फिर वोट बैंक बनाने

के फेर में। संघर्ष की राह पकड़े बिना 'दलित सत्ता' का निर्माण कठिन है।[5]

समकालीन मराठी लेखक शरण कुमार लिम्बाले 'सीढ़ी' कहानी के माध्यम से 'आरक्षण से स्थिति में परिवर्तन' में लिखता है कि आरक्षण के कारण दलित समाज में शिक्षा आई और शिक्षा के बल पर वह उच्चतम पद पर पहुँच कर सुख–वैभव को प्राप्त करना चाहता है, लेकिन सवर्ण लोग पहले जिस प्रकार अनपढ़ अज्ञान व्यक्तियों का खेल खलिहानों में मजदूर के रूप में शोषण करते थे। आज बड़ी–बड़ी शैक्षणिक संस्थाओं में पढ़े–लिखे दलितों को कम श्रेणी का वेतन देकर शोषण किया जाता है। ''मैं बी०ए०बी०एड० था फिर भी डी०एड० की वेतन श्रेणी में काम कर रहा था। प्रधानाध्यापक से बातें करने की फुरसत नहीं मिलती थी। आज समय है, इसलिए चल पड़ा। बी० एड० की वेतन श्रेणी मिलने के लिए आवेदन पत्र भी लिखा। ... नौकरी करनी है तो करो, नहीं तो चले जाओ। प्रधानाध्यापक का अन्तिम और बेशर्म जवाब सुनकर मैं बाहर निकल आया। सोचा कि बेकार में ही प्रधानाध्यापक से मिले। दूसरी तरफ बड़ा गुस्सा भी आया था। हमारे सरकारी व अर्द्धसरकारी स्कूलों में अभी भी सारे के सारे आरक्षित पद भरे नहीं गये थे। आरक्षितों में से मैं अकेला ही हूँ। मेरी माँग वाजिब है। फिर भी प्रधानाध्यापक ने मुझे निकाल दिया। मैं झुँझला गया।''[6]

लेखक कहता है कि नायक की यह 'झुँझलाहट' उस व्यवस्था के खिलाफ है जो एक ओर संविधान में दलितों को विशेष अवसर के तहत शिक्षा, रोजगार व विधायिका में आरक्षण देने की बात करते हैं, लेकिन दूसरी ओर भारतीय समाज का अभिजात सवर्ण समाज अपने

[5] शरण कुमार लिम्बाले, दलित ब्राह्मण कहानी संग्रह, पृ० 55
[6] वही, पृ० 55

पूर्वाग्रहों, संस्कारों एवं शोषण करने की प्रवृत्ति के कारण। 'आरक्षण' के प्रावधान को कभी भी मन से नहीं स्वीकार पाया। भारत सरकार जिसका नेतृत्व सवर्ण मनुवादी वर्ग के हाथ में होने के कारण कभी भी इसे पूरी तरह मुस्तैदी से लागू करने की इच्छाशक्ति नहीं जताई। फलस्वरूप रोजगार और शिक्षा का 'आरक्षण' आज तक भी पूरी तरह लागू नहीं हो पाया। इसी कारण नायक झुँझलाहट साफ तौर पर उस व्यवस्था के खिलाफ है जो एक ओर दलित हितकारी होने की बात करती है वहीं दूसरी तरफ अनेक प्रकार के हथकंडे अपनाकर दलित समाज को गुमराह करती है। इसी प्रकार का वर्णन दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'कूड़ाघर' कहानी में किया है जो दलित लेखक 'शरण कुमार लिम्बाले' ने 'सीढ़ी' कहानी में व्यक्त किया है। ''उसे अपने कार्यालय में होने वाली साजिश व्यथित कर गई थी, जहाँ संवैधानिक नियमों को खुल्लम–खुल्ला ताक पर रखकर नये पदों की नियुक्तियों में धाँधलियाँ हो रही थी। सामान्य श्रेणी के अभ्यर्थी छह महीने पहले ज्वाइन कर रहे थे और आरक्षित छह महीने बाद। जबकि दोनों को एक ही दिन ज्वाइन करने के आदेश थे। लेकिन आरक्षित अभ्यर्थियों को बाद में पत्र भेजे जा रहे थे। यानि सीधे–सीधे दलित अभ्यर्थी का छह महीने की तनख्वाह व पदों में सीनियरिटी की हानि होना ... उसे लग रहा था, आरक्षण का मसला उसकी तमाम शक्ति चट कर जाएगा। उसके जैसे हजारों कार्यकर्ता इस चक्रव्यूह में फँस गए थे। कभी–कभी उसे लगता कि इस पॉलिसी को अब खत्म कर देना चाहिए। लेकिन दूसरे ही पल सिक्के का दूसरा पहलू उसके सामने अपने नग्न रूप में साकार हो उठता था। आरक्षण खत्म होते ही उन्हें नौकरियाँ नहीं मिलेंगी। इसका जीता जागता प्रमाण वे संस्थान हैं जहाँ

संवैधानिक आरक्षण लागू नहीं है, वहाँ दलितों का प्रतिशत कितना है?''[7]

मस्तराम कपूर 'दलित राजनीति के भटकाव' में लिखते हैं कि 'यदि वे आरक्षण को संविधान के अनुसार ईमानदारी से अमल करते तो आज हम सामाजिक गैर–बराबरी को दूर करने के लक्ष्य के करीब होते, लेकिन एक तो ये आरक्षण चालीस साल देर से लागू हुआ और दूसरे, इन्हें लागू करने वालों की नीयत ठीक नहीं रही। उन्होंने आरक्षण को समता स्थापित करने के लक्ष्य से अलग कर राजनीतिक सत्ता के लक्ष्य से जोड़ दिया। विधान मंडलों में दलित–आदिवासी वर्गों को जो आरक्षण मिले, उनका लाभ सवर्ण जातियों की राजनीति करने वाली पार्टियों, कांग्रेस, भाजपा ने उठाया। सवर्ण मतों के बल पर कमजोर और दब्बू दलित–आदिवासी उम्मीद्वारों को जीता कर जिन्होंने सत्ता के लालच में दलित–आदिवासी आंदोलनों से विश्वासघात किया। डॉ० अम्बेडकर ने इसे ही 'राजनीतिक डकैती' कहा था और यह राजनीतिक डकैती 1945–46 से लेकर आज तक चल रही है। नौकरियों आदि में जो आरक्षण लागू हुए, उन दलित आदिवासी और पिछड़े वर्गों में चिकनी परतवाली नई जातियों का निर्माण हुआ जिनकी रूचि अपने दूसरे भाईयों को उठाने में नहीं रही, वे केवल अपनी सुविधाओं की सुरक्षा में लगे रहे। गैर–बराबरी को दूर करने का लक्ष्य बिसर ही गया, सिर्फ सत्ता का लक्ष्य रह गया। आरक्षण लागू करने वाली संवैधानिक संस्थाओं ने भी आरक्षण को सामाजिक न्याय का कार्यक्रम बना दिया अर्थात् सदियों के अन्याय के मुआवजे का कार्यक्रम, जिससे समाज में जलन और प्रतिशोध की भावनाएँ प्रबल हुई। यदि हम समता के लक्ष्य को सामने रखते तो हमारा जोर समाज के साधनों को समान वितरण पर होता और जलन एवं

[7] शरण कुमार लिम्बाले, दलित ब्राह्मण कहानी संग्रह, पृ० 55

प्रतिशोध की भावना पैदा न होती। समाज के साधनों के समान का मतलब है समाजवादी आर्थिक नीतियां, जिसमें किसी को भी एक निश्चित मात्रा से अधिक धन सम्पत्ति संग्रह करने का अधिकार न हो। जब यह अधिकार नहीं होगा, तब अपने लिए अधिक से अधिक सहेजने की प्रवृति खत्म होगी और जलन–ईर्ष्या तथा प्रतिशोध के कारणों का भी शमन होगा। आश्चर्य यह भी है कि हमारी न्याय पालिका ने संविधान के एक मूल्य, स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जिस प्रकार कुछ अभूतपूर्व निर्णय दिए, संविधान के उतने ही महत्वपूर्ण मूल्य समता की रक्षा के लिए उसने आमदनी और खर्च की सीमा निर्धारित करना भी आवश्यक नहीं समझा। ... इसका परिणाम यह हुआ कि आरक्षणों की सारी योजना लक्ष्य से भटक कर राजनीतिक दलों के सत्ता–स्वार्थ का साधन बन गई अब तो आरक्षणों की संकल्पना को ही विकृत किया जा रहा है। कभी आर्थिक आधार पर अगड़ों को बी.पी.एल. के रूप में आरक्षण देने की वकालत कर ... कभी धर्म के आधार पर ... यह सब इसलिए ताकि आरक्षण शब्द ही बदनाम हो जाए।''[8]

समकालीन हिन्दी–मराठी दलित लेखकों ने जहाँ आरक्षण के कारण सवर्ण लोगों के मन में द्वेष भावना व संकीर्ण सोच उत्पन्न हुई है, तो दूसरी ओर आरक्षण के कारण आये परिवर्तन को व्यक्त किया है। किस प्रकार आरक्षण के कारण उन्होंने शिक्षा प्राप्त की ओर शिक्षा ज्ञान के कारण अनेक सम्मानजनक रोजगार अपनाये जिससे उनकी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। जिसका वर्णन दलित लेखक सूरजपाल चौहान ने 'हैरी कब आएगा' कहानी में वर्णित किया है। ''सत्यानाश हो इस सरकार का चूहड़े–चमारों

[8] सं० राजकिशोर, दलित राजनीति की समस्याएँ, पृ० 24–25

के लिए ऋण की व्यवस्था की है इस सरकार ने। इन्हें तरह–तरह की सुविधाएँ दी जा रही हैं, तेजा को देखो कल तक कच्ची कुठरिया व फूस के छप्पर में रहने वाला, आज पक्की हवेली बनाकर हमारे सामने सीना तान कर रह रहा है। मेरा तो इसकी खुशहाली देखकर सीना फटने को हो रहा है। बहुत बुरा समय आ गया है, लोग इज्जत करना ही भूल गए हैं।''[9]

दलित लेखक डॉ० शत्रुघ्न कुमार ने 'तबादला' कहानी के माध्यम से आरक्षण से आऐ स्थिति में परिवर्तन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आज दलित पढ़–लिखकर उच्च से उच्चतम पद को ग्रहण कर रहा है। ''शैलेश को दरभंगा कॉलेज में दाखिला मिल गया था। वह दिन–रात मेहनत में जुट गया था। पढ़ने तथा कुछ बनने की लगन तो थी ही। सबसे बड़ी बात यह थी कि कई सहपाठियों के साथ रहते हुए उसमें किसी भी बुरी आदत की लत नहीं पड़ी थी। निश्चित अवधि में शैलेश ने डॉक्टर की उपाधि पा ली। अब वह एम०बी०बी०एस० की पद्वी से विभूषित हो चुका था। पढ़ाई के दौरान उसे दलित होने का कितना कड़वा अनुभव हुआ था वह ही जानता है। जब वह डॉक्टर की डिग्री लेकर अपने गांव आया तो पूरा गांव उसके स्वागत में खड़ा था। दीनू काका तथा दुलारी की आँखों में खुशी के आँसू थे।''[10]

'आरक्षण' को परिभाषित करते हुए गोपेश्वर सिंह 'दलित आन्दोलन किधर' में लिखते हैं कि आजादी के बाद दलितों को समानता के संवैधानिक अधिकार मिले। संवैधानिक अधिकारों में आरक्षण का अधिकार मिला। इसी आरक्षण के चलते नौकरियों, विधानसभाओं और

[9] सूरजपाल चौहान, हैरी कब आएगा, पृ० 63
[10] डॉ० शत्रुघ्न कुमार, हिस्से की रोटी, पृ० 51–52

लोकसभाओं में दलितों की हिस्सेदारी बढ़ी। इससे कुछ जगहों तक पहुँचने की एक पगडंडी भर निकली। सत्ता में दलितों की व्यापक हिस्सेदारी न हुई और उनकी सामाजिक स्थिति में व्यापक परिवर्तन न हुआ, दलित मुहल्लों की सामाजिक स्थिति लगभग वैसी ही रही। उनके साथ सामाजिक भेदभाव जारी रहा। इस बीच दलितों के बीच अपना नेतृत्व उभरा। वे अपने अधिकारों के प्रति उग्र और जागरूक हुए। लेकिन वे जितने ही उग्र और जागरूक हुए, हिन्दु दिमाग उतना ही संकीर्ण हुआ। उसे लगने लगा कि आरक्षण का लाभ लेकर ये अयोग्य लोग हमारे ऊपर आने लगे हैं। दलित खेत मजदूरों ने अपने अधिकारों की बात उठाई तो हिन्दू किसानों के बीच दलित विरोध उग्र हुआ। जिसके परिणामस्वरूप 'बेलछी कांड' जैसी दलित दहन की घटनाएँ घटित होने लगी। कवि नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता 'हरिजन गाथा' और कथाकार मन्नू भंडारी का उपन्यास 'महाभोज' उसी बेलछी कांड के रचनात्मक प्रमाण पत्र हैं। ऐसा क्योंकि आरक्षण के चलते दलितों को कम मात्रा में ही सही नौकरी तो मिली, उनमें शिक्षा का प्रतिशत भी बड़ा, सरकारी योजनाओं के कारण, तमाम भ्रष्टाचार के बावजूद, उन योजनाओं का कुछ लाभ उनके मुहल्ले तक पहुँचा, लेकिन सामाजिक स्तर पर मौन या मुखर भेदभाव बना रहा?''[11]

दलित लेखक लिखते हैं कि पिछले तिरेपन वर्षों से, खासतौर पर बाबा साहेब डॉ० अम्बेडकर द्वारा रचित संविधान लागू होने के बाद सामाजिक आरक्षणवाद का लगभग सभी क्षेत्रों में पतन हुआ है और दलितों ने अपनी जगह बनाई है। लेकिन उद्योग, वाणिज्य, व्यापार, मन्दिरों व फिल्मों का आरक्षणवाद जस का तस बना हुआ है। पिछले साल एक संस्था ने

[11] सं० राजकिशोर, दलित राजनीति की समस्याएँ, पृ० 102–103

भारतीय अरबपतियों की एक सूची तैयार की। कुल 311 अरबपतियों के पास साढ़े तीन खरब रूपयों की दौलत है और इसमें किसी दलित का कोई हिस्सा नहीं है।

डॉ० अम्बेडकर ने अपने अकेले दम पर ब्राह्मणों के सामाजिक आरक्षण को तोड़ा, इसलिए आज लाखों दलित में शिक्षा का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप प्रोफेसर, डॉक्टर, इंजीनियर इत्यादि बने। उन्होंने राजपूतों के आरक्षणवाद को तोड़ा, इसलिए आज हजारों दलित शासन–प्रशासन, संसद तथा विधानसभाओं में हैं। उन्होंने शूद्रों के आरक्षणवाद को तोड़ा, इसलिए लाखों दलित कृषि कार्य में हैं, हजारों के पास ट्रैक्टर हैं। ऐसे में सवाल यह उठता है कि वे वैश्यों व ब्राह्मणों के सामाजिक आरक्षणवाद को क्यों नहीं तोड़ पाए? असल में दलित नेतृत्व का भी दोष है। दलितों ने डॉ० अम्बेडकर के तमाम आयामों को समझा पर यह भूल गए कि वे मूलतः एक अर्थशास्त्री थे। वर्ष 1942 के पूरे भारत में दर्जन भर भी दलित ऐसे नहीं रहे होंगे, जो ठेका लेने की स्थिति में हों। इसके बावजूद भी इसके 29 अक्टूबर 1942 को अम्बेडकर ने तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो को एक ज्ञापन दिया, जिसमें उन्होंने सी०पी०डब्ल्यू०डी० के ठेकों में दलितों की हिस्सेदारी की मांग की थी। यानि बाबा साहेब अश्वेत आन्दोलन से लगभग पाँच दशक आगे थे और डाइवर्सिटी के महत्व को समझ चुके थे। देर ही सही, उस समझदारी की नई पीढ़ी खड़ी हो चुकी है और दलित पूंजीवाद की मांग कर रहा है। दलित पूंजीपति ही सामाजिक आरक्षणवाद की नई लड़ाई लड़ेंगे और भारतीय पूंजीवाद को लोकतांत्रिक बनाएगें।[12]

[12] चन्द्रभान प्रसाद, मेरिट मंडल और आरक्षण, पृ० 95–96